मौर्य चन्द्रगुप्त विशाखाचार्य

—श्री चन्द्रकान्त बाली, शास्त्री

जैन-जगत् के बड़े-बड़े तपस्वी, वीतराग, जितेन्द्रिय एवं मेधावी मुनियों, उपाध्यायों एवं आचार्यों ने अपने विचक्षण व्यक्तित्व के बल पर महान्-से-महान् सम्राटों को श्रमन-जीवन यापन केलिए प्रेरित किया—यह बात जैन-समाज के लिए गौरवपूर्ण एवं महिमामयी मानी जाएगी। इसी संदर्भ में हम मौर्यवंशी—संक्षिप्त सीमा के अन्तर्गत गुप्तवंशी—चन्द्रगुप्त का समयांकन करने चले हैं। एतन्निमित्त कुछ-एक महत्वपूर्ण मुद्दों का सरल परिचय देना हम साम्प्रत समझते हैं।

मौर्यवंश : उक्त वंश की स्थापना किसने की ? इसका समाधान अब इतना जटिल नहीं रहा। अब इतिहासकार इस बात पर सहमत हुए जाते हैं कि मौर्यवंश की स्थापना नंदवंश में से आठवें नन्द 'मौर्यनन्द' ने की। इस प्रसंग में मौर्यनन्द का उल्लेख इसलिए भी अनिवार्य हो गया है कि जैन-समाज का इतिहास मौर्यनन्द के युग से स्पष्ट-से-स्पष्टतर होने लगा है। कहते हैं—मौर्यनन्द ने कलिंग देश पर आक्रमण किया था और वहाँ से महावीरस्वामी की प्रतिमा उठा लाया था। जैन-संदर्भों से यह भी ज्ञात हो जाता है कि आठवें नन्द (मौर्यनन्द) ने कलिंग पर कब आक्रमण किया था ? परन्तु उनकी संदर्भ-संप्रेषित तिथि[1] भरोसे के योग्य नहीं है। यूनानी इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित भारतीय काल-संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में हम जानते हैं कि आठवें नन्द ने ४५१ ई० पू० में कलिंग देश पर आक्रमण किया था। इस बात की पुष्टि 'खारवेल-प्रशस्ति' नाम से विख्यात अभिलेख से हो जाती है। इस प्रकार जैन-इतिहास से जुड़े हुए मौर्यनन्द को हम मौर्यवंश का प्रथम पुरुष मानते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य नाम से विख्यात मगध-सम्राट् क्या मौर्यनन्द का पुत्र है ? इस प्रश्न के समाधान में 'अस्ति' और 'नास्ति'—दोनों किस्म के उत्तर मिलते हैं। जहाँ तक जैन-साक्ष्य का सम्बन्ध है, उससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य-पुत्र[3] है। इस स्थापना की दृढ़तर पुष्टि 'मुद्राराक्षस' नामक संस्कृत नाटक से भी हो जाती[4] है। परन्तु हम समझते हैं कि कालगत वैषम्य के कारण मौर्यनन्द और चन्द्रगुप्त के दरम्यान पिता-पुत्र के रिश्ते की संभावना क्षीण है। 'नन्द' की भ्रान्ति में आकर लोग-बाग चन्द्रगुप्त मौर्य को पद्मनन्द का पुत्र मान बैठे हैं। यह भी अश्रद्धेय प्रसंग है। मौर्यनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य के मध्य तीसरे व्यक्ति की चर्चा एक वरेण्य सत्य के रूप में सामने आ रही है। मौर्यनन्द के पुत्र एवं चन्द्रगुप्त के पिता के रूप में 'पूर्वनन्द' का उल्लेख[5] मनोरंजक भी है और अभिनन्दनीय भी है। यही कारण है कि 'कामन्दकीय नीतिसार' के टीकाकार ने लिखा है : 'मौर्यकुलप्रसूताय' यह चन्द्रगुप्त का विशेषण है। इन सब संदर्भों के आलवाल में विकसित मौर्यवंश का परिचय इस प्रकार है :

१. जैन काल-गणना-विषयक प्राचीन परम्परा (हिमवन्त थेरावली) से ज्ञात होता है कि वीरनिर्वाण-संवत् १४६=३७८ ई० पू० में आठवें नन्द ने कलिंग पर चढ़ाई की थी। यह विश्वसनीय नहीं है। कारण, ४३०-३४२ ईसवी पूर्व में मगध पर नवम नंद शासन कर रहा था। अलबत्ता यदि यह संख्या वीर-जन्म से मान ली जाय तो यथार्थपरक हो भी सकती है। यथा ५९९-१४९=४५० ई० पू० में आठवें नन्द ने कलिंग पर आक्रमण किया होगा।

२. वेदवाणी, बहालगढ़ (सोनीपत) वर्ष ३३, अंक ७.

३. वीर निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना : मुनि कल्याण विजय ; पृष्ठ १६६।

४. द्रष्टव्य—अंक २ और श्लोक संख्या ६।

५. (क) पूर्वनन्दसुतं कुर्यात् चन्द्रगुप्तं हि भूमिपम् ॥ — कथा सरित्सागर : १/४/११९
(ख) योगानंदे यशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः। चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

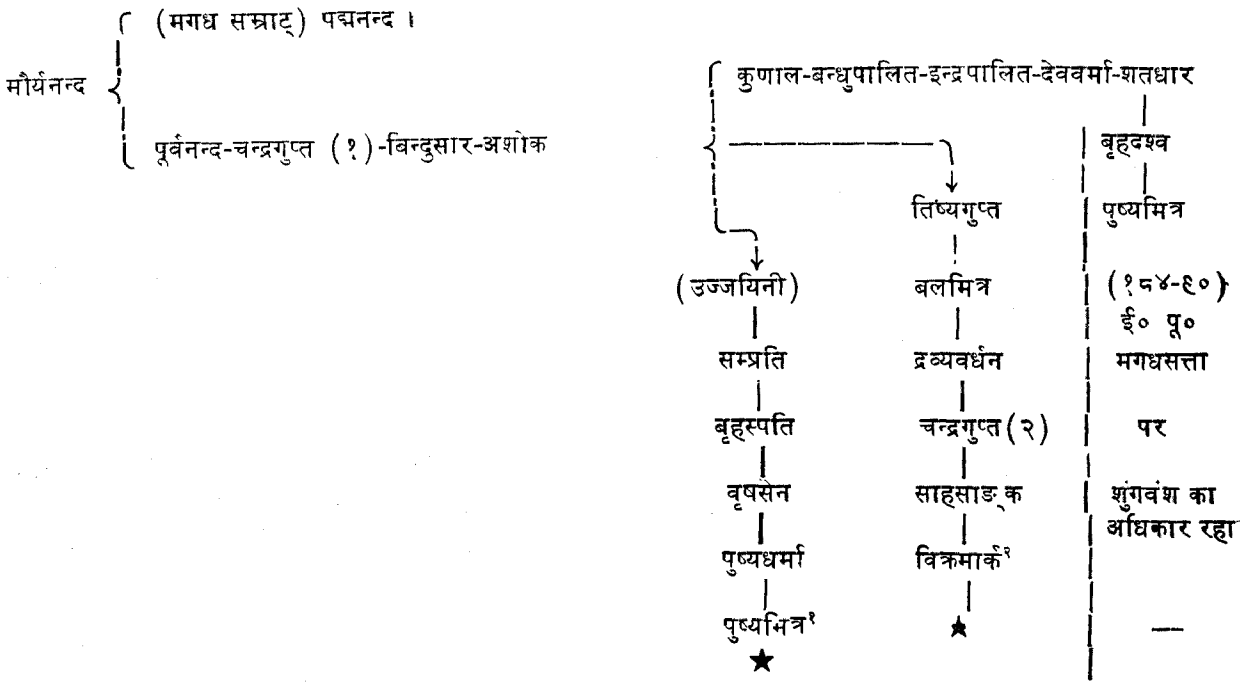

प्रस्तुत प्रसंग में द्रव्यवर्धन (दधिवाहन वा) का पुत्र चन्द्रगुप्त एक वरेण्य व्यक्तित्व है, जिसकी अमर गाथाओं से जैन-साहित्य सम्यक्तया आप्लावित है।

गुप्तवंश : जैन-ग्रन्थों से पता चलता है कि सम्राट-अशोक ने गुप्त-संवत्सर[3] चलाया। इस पर दिवंगत मुनिश्री कल्याणविजय ने अपनी नकारात्मक टिप्पणी भी लिखी है। इसके विपरीत हम इस गुप्त-संवत्सर पर अनुसंधानपूर्वोचित श्रद्धा रखते हैं और एतन्निमित्त साक्ष्य ढूँढ़ने में तत्पर हैं। यह तो जैन-शास्त्रों में लिखा है कि जब उज्जयिनी पर से सम्प्रति (वंश) का शासन समाप्त हो गया, तब "वहाँ का राज्यासन अशोक के पुत्र तिष्यगुप्त के पुत्र बलमित्र और भानुमित्र नामक राजकुमारों को मिला।" बहुत संभव है, तिष्यगुप्त से इस वंश का नाम 'गुप्तवंश' पड़ा हो ! हम जानते हैं कि सूर्यवंश से 'इक्ष्वाकुवंश' और इक्ष्वाकुवंश से 'रघुवंश' का शाखा-उपशाखा के रूप में प्रस्फुटन इतिहास-सम्मत है; तद्वत्, नंदवंश से 'मौर्यवंश' और मौर्यवंश से 'गुप्तवंश' का प्रस्फुटन वंश-विज्ञान की दृष्टि से प्रशस्त है और ऐतिह्य है। हम चन्द्रगुप्त के परिचय-विश्लेषण में 'गुप्तवंश' को ध्यान में रखेंगे।

१२ वर्षीय अकाल : भारत में १२-१२ वर्ष के अकाल पड़ने का इतिहास काफी पुराना है। पुराण-शास्त्रों से ज्ञात होता है कि महाराजा प्रतीप के जमाने में १२-वर्षीय (३३६४-३३५२ ई० पू०) अकाल पड़ा था। जैन-इतिहास के अनुसार भी १२-वर्षीय दो अकाल पड़ने की सूचना है। पहला अकाल पद्मनन्द (अर्थात् नवम नंद) के शासनकाल में, ३८२-३७० ईसवी पूर्व में पड़ा था। दूसरा अकाल शुंगवंशी पुष्यमित्र के शासनकाल में, अर्थात् १६०-१४८ ईसवी पूर्व में पड़ा था। इन दो अकाल-घटनाओं की वजह से जैन-जगत् को महती अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी। चूँकि प्राङ्मौर्य युगों में जैन-आगम केवल कण्ठस्थ हुआ करते थे, अतः अकाल के दुष्प्रभावों के परिणामस्वरूप असंख्य जैनमुनि दिवंगत हुए और उनके अमर निर्वाण के साथ ही कण्ठस्थ जैन-आगम भी तिरोहित हो गए। उनके पुनर्आविर्भाव की सर्वविध संभावनाएँ भी लुप्त हो गई थीं। लगभग यही स्थिति दूसरे अकाल में भी थी। इन दोनों अकालों के बीच में एक स्पष्ट विभाजक

---

१. यदा पुष्यमित्रो राजा प्रवर्तितः तदा मौर्यवंशः समुच्छिन्नः ॥ —अशोकावदान

२. विक्रमार्क का उज्जयिनी में राज्याभिषेक ; हिमवन्त थेरावली (वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना; पृष्ठ १८५)

३. 'और निर्वाण से २३६ वर्ष बीतने पर मगधाधिपति अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की और वहां के राजा क्षेमराज को अपनी आज्ञा मनाकर वहाँ पर उसने अपना 'गुप्त-संवत्सर' चलाया।' इस पर मुनिश्री की टिप्पणी (३) ध्यानाकर्षित करती है : "मालूम होता है थेरावली-लेखक ने अपने समय में प्रचलित गुप्त राजाओं के चलाए गुप्त-संवत् को अशोक का चलाया हुआ मान लेने का धोखा खाया है।
—वीर निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना : पृष्ठ १७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेखा को आसानी से पहचाना भी जा सकता है। पहला अकाल (३८२-३७० ई० पू०) सार्वभौम था, जबकि दूसरा अकाल सार्वभौम न था, बल्कि उत्तर भारत तक सीमित था। जैनशास्त्रों के परिशीलन से पता चलता है उक्त अकाल की विभीषिका से संत्रस्त असंख्य मुनि, उपाध्याय एवं आचार्यगण दक्षिण की ओर प्रस्थान कर[1] गए। इससे ज़ाहिर है कि उस समय (१६०-१४८ ई० पू०) दक्षिण भारत अकाल की दुश्छाया से सुरक्षित रहा होगा।

भद्रबाहु : जैन-जगत् की आचार्य परम्परा में महास्थविर भद्रबाहु का स्थान अत्यन्त वरेण्य नजर आता है। पहले अकाल के दुश्चक्र से बच निकले आचार्यों में भद्रबाहु ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनके सान्निध्य में जैन-आगमों की पुनरुद्धार-भावना से प्रेरित जैन-मुनियों ने भगीरथ प्रयत्न करके जैन-शास्त्रों का आकलन किया था। बल्कि यूं कहना चाहिए कि जैन-आगमों की रक्षा में भद्रबाहु का योगदान दिव्य एवं प्रथम कोटि का था।

भद्रबाहु के समनामधारी एक अन्य भद्रबाहु भी हुए हैं, जो जन्मना ब्राह्मण थे और प्रसिद्ध आचार्य वराहमिहिर[2] के भाई थे। सामान्यतया यह बताया जाता है कि पहले तो दोनों भाई जैन-दीक्षा लेकर श्रमण-जीवन यापन करने लगे, परन्तु भद्रबाहु को कनिष्ट होने पर भी शीघ्र ही 'आचार्यत्व-पद' पर प्रतिष्ठित किया गया; अतः आचार्यत्व-वंचित वराहमिहिर क्रोध के वशीभूत पुनः 'ब्राह्मणत्व' अंगीकार करके ज्योतिर्विद्या के बलपर जीवन-यापन करने लगा।

चिन्तन : दो व्यक्तियों का समनामधारी होना भ्रान्ति-सृजन में अपने-आप में एक अपूर्व कारण है, जो कहीं भी दो समनामधारी व्यक्तियों में प्रायः होता रहता है, पर यहाँ दोनों भद्रबाहुओं के युग में अकाल के अस्तित्व ने उनके समीकरण को और अधिक गंभीर बना दिया है। इतना ही नहीं, चन्द्रगुप्तों का (जो सौभाग्यवश दोनों मौर्य थे) अस्तित्व भी इनके समीकरण में पर्याप्त योगदानी प्रतीत हो रहा है। यहाँ बड़े गंभीर अनुसंधान की अपेक्षा है, ताकि समीकरण को बिलगाकर भद्रबाहुओं की ठीक-ठीक पहचान हो सके।

साहसाङ्क-संवत् : **१४६ ईसवी पूर्व का साल** : उज्जयिनी में एक राजा साहसाङ्क हुआ है, जिसने अपने नाम से 'साहसाङ्क-संवत्' चलाया था। बड़े संतोष की बात है कि साहसाङ्क-संवत् की परम्पराएँ मिल[3] गई हैं। यथाप्राप्त काल-परम्परा के परिशीलन से मालूम पड़ता है कि साहसाङ्क-संवत् का प्रतिष्ठान-वर्ष १४६ ईसवी पूर्व का साल है। इसी वर्ष की एक अन्य महत्त्वपूर्ण सूचना भी है। वराहमिहिर ने 'कुतूहलमंजरी' की रचना युधिष्ठिर-संवत्[4] ३०४२=जय संवत्सर में की थी। विषयान्तर होने पर भी यह जान लेना निहायत ज़रूरी है कि महाराजा युधिष्ठिर का अभिषेक दो बार हुआ था—पहला अभिषेक पाण्डु-निधन के पश्चात् ३१८८ ई० पू० में हुआ था; दूसरा अभिषेक भारती संग्राम के पश्चात् ३१४८ ई० पू० में हुआ था। अतः प्रथम अभिषेक-काल (३१८८ ई० पू०) के ३०४२ वर्षों के पश्चात् अर्थात् ३१८८-३०४२=१४६ ई० पू० में 'कुतूहल-मंजरी' की रचना हुई—इसे शंकातीत ही समझो। इस अद्भुत संयोग-लब्ध सँबत्सर-सामंजस्य को देखते हुए महाराजा साहसाङ्क तथा आचार्य वराहमिहिर की 'समसामयिकता' को केवल अनुमेय नहीं मान सकते। यह एक वास्तविकता है, जिससे यथासमय लाभ उठाया जाएगा।

प्राचीन शक : भारतीय इतिहास, विशेषतया जैन इतिहास, शक-संवत् के माध्यम से ही जाना-पहचाना जाता है। शक-संवत् को एक तरह से इतिहास का मील-पत्थर मान लिया गया है। आनन्द की बात यह है कि शक-संवत् की प्रामाणिक प्रतिष्ठापना वराहमिहिर के काल-सूत्र से : *"षट्-द्विक-पंच-द्वियुतः शककालः तस्य राज्यस्य।"* मानी जाती है। इस प्रसंग में वराहमिहिर की आप्तता इसलिए महत्त्वपूर्ण हो गई है कि वराहमिहिर 'द्रव्यवर्धन-चन्द्रगुप्त-साहसाङ्क' का निकट-सम्पृक्त व्यक्ति है। वराहमिहिर का

---

१. "इतश्च तस्मिन् दुष्काले कराले कालरात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघः तीरं नीरनिधेर्ययौ।" —परिशिष्ट पर्व ९/५५

२. "प्रतिष्ठानपुरे वराहमिहिरभद्रबाहुद्विजौ बांधवौ प्रव्रजितौ।
भद्रबाहोराचार्यपददाने रुष्टः सन् वराहो द्विजवेषमादृत्य वाराहीं संहितां कृत्वा निमित्तैं जीवति।" —कल्पकिरणावली १६३

३. चतुर्विंशत्यधिकेऽब्दे चतुर्भिर्नवमे शते शुक्ले साहसमल्लाङ्के नाभस्ये प्रथमे दिने संवत् ९४४, भाद्रपद सुदि १, शुक्रे श्रीमद् विजयसिंहदेव राज्ये। यथा—
२४×४=९६+९००=९९६—१४६=८५० ईसवी सन्;
संवत् ९४४—९४=८५० ईसवी सन्। विदित हो, गर्दभिल्ल वंश ने चार संवत् चलाए थे; इनमें से प्रथम 'विक्रम संवत्' ९५-९४ ईसवी पूर्व से चला था।

४. स्वस्ति श्री नृप सूर्यसूनजशकेशाके द्विवेदाम्बर वै—(३०४२)
मानाब्दमिते त्वनेहसि जये वर्षे वसन्तादिके। वर्षनाम फाल्गुनः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निधन शक संवत् ५०९=११३ ईसवी पूर्व में हुआ माना जाता[1] है। संदर्भ+दन्तवार्ता के समन्वय से उसकी आयु १९५-११३ ईसवी पूर्व की मानी जा रही है।

यहाँ यह शंका होनी नितरां नैसर्गिक है कि राष्ट्रीय एवं बहु-चर्चित शक-संवत् की उपेक्षा करके प्राचीन शक-संवत् की कल्पना करना तथा उसकी संदिग्ध उपयोगिता की स्थिति में उससे काम चलाना कहाँ तक उचित है ? इस शंका का समाधान आवश्यक है। जैन-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि मौर्य-वंश से पूर्व नन्द-वंश था, नंद-वंश से भी पूर्व शक-वंश था। इस पूर्वोत्तर शृंखला में आबद्ध[2] शक-वंश की 'सत्ता' लगभग जैन-जागरण की समकालिक वास्तविकता है, इसलिए नन्द-पूर्व शक-वंश द्वारा स्थापित शक-संवत् ही जैन-इतिहास का सशक्त काल-बोधक सूत्र है, जिसकी उपेक्षा कर सकना संभव नहीं है।

चूंकि वराहमिहिर ने अपनी रचना (कुतूहल मंजरी) में युधिष्ठिर संवत् ३०४२ का संकेत दिया है, अतः उसी से २५६६ वर्ष पश्चात् : ३१८८-२५६६=६२२ ई० पू० में स्थापित शक-संवत् की प्रासंगिकता को मंजूर करके ही हमें जैन-अनुसंधान में उद्यत होना चाहिए।

ऐतिहासिक स्थिति : 'भारतवर्ष' समग्र ऐतिहासिक दृष्टि से एक 'इकाई' के रूप में मान्यता-प्राप्त था, अर्थात् सारा भारतवर्ष एक था और आज भी उसकी यही स्थिति है। परन्तु शासन को सुचारू रुप से चलाने के लिए उसके अनेक 'प्रभाग' परिकल्पित किये गए थे। केन्द्रीय सत्ता एकमेव थी और वह पाटलीपुत्र में सन्निहित थी। कम-से-कम सिकन्दर-आक्रमण तक उसकी यही 'एकात्मता' सर्वमान्य थी; जैसा कि हमने लिखा है। उस समय कौशल, कौशाम्बी, मालव, सिन्ध, सौवीर, लाट, काश्मीर, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ आदि प्रदेश भारतीय भौगोलिक एवं राजनयिक इकाई के अंग-स्थानीय प्रदेश माने जाते थे। मगध-सत्ता को सहज भाव से केन्द्र सरकार तथा अन्य प्रभागीय सत्ता को प्रदेश-सरकार कह सकते हैं। यही कारण है पुराण-शास्त्रों में मगधाधीशों का शासन-काल संवत्सरोल्लेख-पूर्वक है, जबकि प्रादेशिक राजाओं का नामाङ्कन मात्र से काम चलाया गया है। हमारे आलोच्य समय में मगध पर पुष्यमित्र का शासन था और मालवा पर गुप्तान्वयी चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन था। उज्जयिनी उस समय मालवा की राजधानी थी।

विमर्श-परामर्श

समनामधारी दो चन्द्रगुप्तों के अस्तित्व से भारतीय इतिहास अस्तव्यस्त हुआ ही है। अथवा हम उसे समझने में असफल रहे हैं। इस भ्रान्ति के आविर्भाव का कारण दो-दो अकालों का घटित होना भी है, और अपरिपक्व अनुसंधायकों में अकाल-घटनाओं का कालगत विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त करने की अक्षमता भी है; फिर चन्द्रगुप्त एवं अकाल-घटना से जुड़े हुए समनामधारी दो भद्रबाहुओं का वस्तुपरक परिचय खोजना भी किसी ने आवश्यक नहीं समझा। हम भद्रबाहुओं के प्रति श्रद्धाभिभूत जरूर थे, पर आँख उठा कर उन्हें देखने और परखने की योग्यता से हम 'कोरे' थे. परिणामतः यह भ्रान्ति अपनी जड़ जमाकर उद्भूत हुई कि पूर्वनन्दपुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य आचार्य भद्रबाहु के प्रभावाकर्षण से जैन-साधु हो गया था। किसी ने यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझी कि क्या चन्द्रगुप्त युग में महास्थविर भद्रबाहु विद्यमान भी थे ? जैन-साक्ष्यों से हम पूर्णतया अवगत हैं कि महास्थविर का महाप्रयाण[3] वीर-संवत् १७०=३५७ ई० पूर्व में हुआ था। उस समय तक चन्द्रगुप्त पदासीन नहीं हुआ था। पौराणिक एवं जैन-साक्ष्यों से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं: चन्द्रगुप्त मौर्य ३४२ ईसवी पूर्व में अभिषिक्त हुआ था। हालाँकि आधुनिक इतिहासकार चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए ३२२-२१ ईसवीपूर्व का समय बताते हैं। चूंकि हम आधुनिक विचारों की अवहेलना करना नहीं चाहते और अपनी धार्मिक मान्यताओं के प्रति अविचल निष्ठा भी हमें अभीष्ट है, अतः चन्द्रगुप्त मौर्य का समय ३४२-३२१ ईसवीपूर्व मानने में कोई विप्रतिपत्ति शेष नहीं रह जाती। पौराणिक साक्ष्यों को उपस्थापित करने से निबन्ध का विस्तार हो जाएगा, अतः हम अधिक-से-अधिक जैन-साक्ष्यों तक सीमित रह कर विचार करते हैं। जैन-पट्टावलियों के अनुसार :

---

१. नवाधिकपंचशतसंख्यशाके (५०९) वराहमिहिराचार्यो दिवंगतः। ६२२-५०९=११३ ईसवी पूर्व में वराहमिहिर का निधन हुआ।

२. ता एवं सगवंसो य नंदवंसो य मरुयवंसो य।
सयराहेण पणट्ठा समयं सज्झाणवंसेण॥
—तित्थोगाली ७०५.

२. (क) चौदस पुव्ववच्छेदो वरिससते सत्तरे विणिदिट्ठो।
साहम्मि थूलभद्दे अन्ने य इमे भवे भावा।
—तित्थोगाली पइन्नय

(ख) आर्य सुधर्मा २०, जम्बू ४४, प्रभाव ११, शय्यंभव २३, यशोभद्र ५०, संभूति विजय ८, भद्रबाहु १४=१७०, ५२७-१७०=३५७ ई० पूर्व का साल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति	हरिवंशपुराण	तित्थोगालीपइन्नय	विविध तीर्थ कल्प
राजा पालक =	६०	६०	६०	६०
नंद राज्य =	१५५	१५५	१५५	१५५
	२१५	२१५	२१५	२१५

वीर-निर्वाण से २१५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय हुआ। यहाँ एक विशेष 'शब्द' हमारा ध्यान आकर्षित करता है, वह है—निर्वाण। हमने निर्वाण का अर्थ समझ लिया है—'मोक्ष'। जबकि कोशग्रन्थानुसार नानार्थक 'निर्वाण' का अर्थ केवल मोक्ष ही नहीं है, बल्कि केवली ज्ञान[1] को भी 'निर्वाण' कहते हैं। यह विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है कि ४२ वर्ष की वय में महावीरस्वामी को केवली ज्ञान हुआ था। वह वर्ष ५९९ - ४२ = ५५७ ई० पू० का था, सो ५५७—२१५ = ३४२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य का चाणक्य की सहायता से मगधसम्राट् के रूप में अभ्युदय जैन-मान्यता के सर्वथा अनुरूप है और यही मान्यता पुराण-शास्त्रों की भी है। इस आकलन के अनुसार नन्दकालीन अकाल (३८२-३७० ई० पू०) चन्द्रगुप्त-अभिषेक के २८-वर्ष-प्राक् समाप्त हो चुका था। इतना ही नहीं, उस समय तक महास्थविर भद्रबाहु के दिवंगमन को भी १५ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। निष्कर्षतः काल-विसंगति के संदर्भ में अकाल-घटना के परिप्रेक्ष्य में चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु को करीब-करीब लाना या बताना निरा अनैतिहासिक है। फिर कहाँ रह जाता है—चन्द्रगुप्त मौर्य का मुनिवेश धारण करना और जैन-यतियों के साथ दक्षिण में चले जाना? इस समग्र सन्दर्भ-जाल के परिवेश में चन्द्रगुप्त मौर्य की जैन दीक्षा लेने की बात हठपूर्वक मन और मस्तिष्क से निकालनी ही होगी।

अब गुप्तान्वयी चन्द्रगुप्त मौर्य की बात करते हैं।

हम पतञ्जलिविरचित 'महाभाष्य' तथा वामनजयादित्य-विरचित 'काशिका' में पढ़ते हैं—'पुष्यमित्र सभम्' 'चन्द्रगुप्त सभम्'[2]। इन दो नरनाथों की सभा में कौन-कौन कोविद-कवि विद्यमान थे—यह बताना यहाँ अप्रासंगिक है, अलबत्ता इतना स्मरण रख लेना बहुत जरूरी है—पुष्यमित्र की सभा में व्याकरणमूर्ति पतंजलि विद्यमान थे, चन्द्रगुप्त की सभा में वामन-जयादित्य जैसे भाषामूर्ति व्याकरण-रत्न विद्यमान थे। अतः इनका एक अत्यल्पाक्षरी संदर्भ बड़ा निर्णायक सिद्ध हुआ है। पहले तो इन संदर्भों से इनका पौर्वापर्य का ज्ञान होता है। मगधनरेश पुष्यमित्र पूर्वोदित व्यक्ति है, उज्जयिनी-नाथ चन्द्रगुप्त पश्चादुदित व्यक्ति है। पुष्यमित्र १८५-१८४ ई०पू० में मगध-सम्राट् बना था। पुराण-शास्त्र प्रतिपादित करते हैं कि (चन्द्रगुप्त मौर्य के) १३७वें वर्ष बाद पुष्यमित्र[3] हुआ। पौराणिक काल-गणना के अनुसार सप्तर्षिसंवत् (१) १२४ = ३२१ ईसवी पूर्व में चन्द्रगुप्त मौर्य का निधन हुआ, सो ३२१—१३७ + १८४ ई०पू० से पुष्यमित्र का युग आरम्भ होता है। आधुनिक इतिहासकारों का अभिमत भी इस मान्यता से भिन्न नहीं है; उनके मतानुसार सम्राट् अशोक का निधन २३२ ईसवीपूर्व में हुआ। तत्पश्चात् कुणाल ८ + बन्धुपालित ८ + इन्द्रपालित १० + देववर्मा ७ + शतधार ८ + बृहदश्व ७ = योग ४८ वर्ष; सो, २३२ ४८ = १८४ ई० पू० में सम्राट् पुष्यमित्र का आगमन पौराणिक भी है, ऐतिहासिक भी है। यदि पट्टावलियों में अंकित पुष्पमित्र वही है, जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं, तो मानना होगा कि जैन-मान्यता भी पौराणिक स्वीकृति से बहुत दूर नहीं है। हम पिछले अनुच्छेद में पढ़ आए हैं त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति, हरिवंश पुराण, तित्थोगाली और विविधतीर्थकल्प के अनुसार वीरनिर्वाण से २१५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय हुआ। उससे १६० वर्ष बाद पुष्पमित्र मगध-सम्राट् बना। ये सब मिलाकर २१५ + १६० = ३७५ वर्ष हुए। अतः महावीरस्वामी के केवली ज्ञान से ३७१ वर्ष बाद, अर्थात् ५५७—३७५ = १८२ ई० पू० में पुष्यमित्र का अभ्युदय जैन-कालगणना सम्मत है, जो पौराणिक स्वीकृति से केवल दो वर्ष न्यून है। हमने पुष्यमित्र के काल-निर्धारण पर इतनी विस्तृत चर्चा इसलिए की है कि पुष्पमित्र के संदर्भ में गुप्तान्वयी चन्द्रगुप्त मौर्य का समय निश्चित कर सकें।

चन्द्रगुप्त मौर्य (२) पुष्यमित्र के बाद उज्जयिनीश्वर बना, पर वह कब बना? इसका उत्तर हम विपरीत क्रम से लेते हैं। चन्द्रगुप्त के पुत्र साहसाङ्क ने अपना संवत् चलाया, जो १४६ ई० पू० से परिगणित हुआ: हम मान लेते हैं —१४६ ई० पू० में

---

१. कैवल्य निर्वाणं निःश्रेयसममृतमक्षरं ब्रह्म।
अपुनर्भवोऽपवर्गः मुक्ति मोक्षो महानन्दः॥ —हलायुधकोश १२४

२. (क) संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः। —किरात० ३/१४
(ख) संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास: प्रथम भाग; पृष्ठ ३२५।

३ सप्तत्रिंशत् शतं पूर्णं नेष्यो शुंगान् गमिष्यति। —वायु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहसाङ्क उज्जयिनीश्वर बना होगा। १४६ ई० पू० चन्द्रगुप्त राज्य की अवरसीमा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। फिर इस युग में १२-वर्षीय अकाल का उल्लेख महत्त्वपूर्ण निर्णायक दस्तावेज की हैसियत पा गया है। हम अकाल-प्रकरण में पढ़ आये हैं दूसरा अकाल १६०-१४८ ई० पू० में पड़ा था। और यहा थोड़े से अनुमान की भी गुंजाइश है कि चन्द्रगुप्त का 'राज्याभिषेक' १७० ई० पू० में हुआ होगा। इस तरह अनुमान+संवत्संदर्भ दोनों के परिणामस्वरूप उज्जयिनीश्वर चन्द्रगुप्त का शासनकाल १७०-१४७ ई० पू० तक सहज भाव से स्वीकार किया जा सकता है। १२-वर्षीय 'अकाल' इस काल-सीमा के अन्तर्भुक्त हो ही जाता है। यही इसके पूर्वापर-क्रम का रहस्य है।

हमने उज्जयिनीश्वर चन्द्रगुप्त को बार-बार गुप्तान्वयी लिखा है। इसका प्रमुख कारण अशोक पुत्र तिष्यगुप्त की वंशवल्लरी में चन्द्रगुप्त को गुप्तान्वयी मानना वंशविज्ञान-सम्मत है। फिर इसके सभा-पंडित वामन-जयादित्य का होना एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ से अवगत होता है।[1] उसके अनुसार साहसाङ्क को गुप्तान्वयी लिखा गया है। अतः साहसाङ्क के संवत् से प्राग्वर्ती चन्द्रगुप्त को वामन-जयादित्य के उल्लेख के साथ गुप्तान्वयी मानना विज्ञान-सम्मत है, तर्क-संगत है और संदर्भ-सिद्ध भी है।

भद्रबाहु के समनामधारी भद्रबाहु की पहचान अब इतनी जटिल नहीं रही। भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त को संभाव्य दुष्काल की सूचना[2] दी थी। इसका प्रभाव चन्द्रगुप्त पर पड़ा। चन्द्रगुप्त का अन्य नाम 'चन्द्रगुप्ति' भी सुनने में आता[3] है। यही चन्द्रगुप्त भद्रबाहु से जैन दीक्षा लेकर विशाखाचार्य बन गया।[4] भद्रबाहु का समय १६०-१०० ईसवीपूर्व तक मानने योग्य है। चन्द्रगुप्त ने योगबल द्वारा देह-विसर्जन किया।[5] यहाँ भूयोभूयः स्मरण रखने की बात यह है कि विशाखाचार्य होनेवाले चन्द्रगुप्त को सर्वत्र उज्जयिनीश्वर ही लिखा[6] है। चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के शिष्यत्व-गुरुत्व की मान्यता सर्वत्र[7] देखने में आती है।

बस अन्तिम चर्चा। श्रवणबेलगोल जैन-तीर्थ पर भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त की चर्चा एक विख्यात शिलालेख में वर्तमान है। यह भी अनुमान[8] है कि उसका समय शक-संवत् ५७२ है। यदि उक्त शिलालेख पर ५७२ शक उत्कीर्ण हैं, तो मानना होगा उज्जयिनी की उक्त धार्मिक गाथा का यह प्राचीनतम साक्ष्य है, जो ६२२ ईसवी पूर्व से गिना जाता है: ६२२-५७२=५० ई० पू० के प्रमाण से बढ़कर और प्रमाण क्या होगा?

---

१. "गुप्तान्वय जलधर मार्ग यभस्ति वामनजयादित्य प्रमुख मुखकमलविनिर्गत-सूक्तिमुक्तावली मणिकुंडलमंडित वर्णनु विक्रमाङ्कनं साहसाङ्कम्।
—कन्नड़ पंचतन्त्र, ग्राल इंडिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस मैसूर, दिसम्बर १९३५, पृष्ठ ५६८।

२. "...भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयन्यामष्टांगमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सर-काल-वैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसंघः उत्तरपथाद् दक्षिणपथं प्रस्थितः।"
—पार्श्वनाथवस्ति का लेख

३. (क) "चन्द्रगुप्तिर्नृप स्तत्राऽचकच्चारु गुणोदयः।"
—रत्ननंदिरचित भद्रबाहुचरित्र

(ख) "चन्द्रगुप्तिमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्णिताम्।
सर्वसंघाधिपो जातः विषखाचार्यसंज्ञकः॥"
—वृहत्कथाकोश

४. "ततश्चोज्जयिनीनाथः चन्द्रगुप्तो महीपतिः।
वियोगात् यतिनां भद्रबाहुं नत्वाऽभवन्मुनिः।"
—भद्रबाहुचरित्र

५. "समाधिमरणं प्राप्य चन्द्रगुप्तो दिवं ययौ॥"
—परिशिष्ट पर्व ८/४४४

६. (द्रष्टव्य टिप्पणी संख्या-३)

७. (क) "यदीय शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृंदः।
विवेश यत्तीव्रतपः प्रभावात् प्रभूतकीर्ति र्भुवनान्तराणि।"

(ख) 'चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावात् वनदेवताभिः आराधितः स्वस्थगणो मुनीनाम्॥"

८. वीर नीर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना: मुनिश्री कल्याण विजय; ६७-७७ पृष्ठ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष : पुष्यमित्र और चन्द्रगुप्त की समकालिकता इस रहस्य को द्योतित करती है कि मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य को यहाँ अप्रासंगिक ही समझा जाय। यदि साहसांक-संवत् के संदर्भ द्वारा चन्द्रगुप्त-शासन की अवरसीमा १४६ ई० पू० प्रमेय है तो उसकी ऊर्ध्व-सीमा १७० ई० पू० अनुमेय है। वराहमिहिर एवं भद्रबाहु का 'भ्रातृत्व' दोनों को २००-१०० ईसवीपूर्व के मध्यान्तर में ले जाता है, जो मध्यान्तर चन्द्रगुप्त मौर्य (१) के प्रतिकूल पड़ता है। वराहमिहिर का प्रस्तावित प्राचीन शक ६२२ ई०पू० का है, जो पार्श्वनाथ बस्ती के अभिलेख को आलोकित करता है और वही अभिलेख गाथा को और काल-गणना को प्रमाणित करता है। अतः तिष्यगुप्त के वंश में हुए मौर्यचन्द्रगुप्त (२)का विशाखाचार्य बन जाना जैन-इतिहास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

काल-सारिणी

ईसवी पूर्व	घटनाएँ
४३०	नवम नंद का राज्याभिषेक।
३८२-३७०	नन्दयुगीन प्रथम अकाल।
३५७	महास्थविर भद्रबाहु का निधन।
३४२	चन्द्रगुप्त मौर्य (१) का अभ्युदय।
२७६	सम्राट् अशोक का अभिषेक।
२५७	सम्प्रति को उज्जयिनी का राज्य मिला।
१९७	बलमित्र (तिष्यगुप्त का पुत्र) उज्जयिनीश्वर बना।
१८४	पुष्यमित्र मगध-सम्राट् बना।
१९०-१००	आचार्यश्री भद्रबाहु का समय
१७०	चन्द्रगुप्त मौर्य (२) उज्जयिनीश्वर बना।
१९०-१४८	१२-वर्षीय दूसरा अकाल।
१४६	साहसांक-संवत् की स्थापना।
११३	वराहमिहिर का निधन।
१०० लगभग	चन्द्रगुप्त विशाखाचार्य का निधन।
५०	ईसवीपूर्व के लगभग पार्श्वनाथबस्ति का अभिलेख।

—पुराणशास्त्र + जैनशास्त्र + अन्य संदर्भों का समवेत निष्कर्ष

सैन्य-प्रयाण के अनन्तर, यूनानी दार्शनिक अरस्तू के परामर्श पर साथ आए हुए यूनानी दर्शनशास्त्रियों के दल ने सिकन्दर को रक्तपात से विमुख करने के लिए भारतीय ऋषियों, विशेषतः दिगम्बर साधुओं (जिम्नोसोफिस्त) के प्रभाव क्षेत्र एवं आत्मबल से प्रभावित होकर कलानोस एवं दन्दामिस (दौलामस) से भेंट करने के लिए प्रेरित किया इतिहासवेत्ताओं के अनुसार कलानोस तथा दन्दामिस ही क्रमशः मुनि कल्याण और आचार्य धृतिसेन थे। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति के स्रोत' में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किया है—

"सिकन्दर को सलाह दी गयी थी कि वह दो सम्मानित तर्कशास्त्रियों (जिम्नोसोफिस्त) से भेंट करे जिनके नाम कलानोस और दन्दामिस थे। उसने उन्हें बुलाया, पर उन्होंने मिलने से इनकार कर दिया। ओनेसिक्रतोस नामक यूनानी दार्शनिक को (जिसने एथेन्स में दियोजिनीज की परम्परा के सिनिक दार्शनिक के रूप में नाम कमा लिया था) सिकन्दर ने उन तर्कशास्त्रियों को लाने के लिए भेजा। कलानोस ने यूनानी दार्शनिक को अपने कपड़े उतार कर बातचीत करने के लिए कहा और जब यूनानी दार्शनिक ने उसका पालन किया तब उससे बातचीत की, और बड़े समझाव-बुझाव के बाद वह सिकन्दर से मिलने के लिए राजी हुआ। सिकन्दर उसकी निर्भीक स्वतंत्र वृत्ति से प्रभावित हुआ, हालांकि उसने इतनी बड़ी सेना लेकर इधर-उधर भटकने और लोगों का सुख-चैन बिगाड़ने के लिए सिकन्दर की भर्त्सना की। कलानोस ने चमड़े का एक रूखा टुकड़ा धरती पर फेंका और दिखाया कि जब तक कोई चीज केन्द्र पर स्थित नहीं होती तब तक उसके सिरे ऊपर-नीचे होते रहेंगे और कि यही उसके साम्राज्य का चरित्र था जिसके सीमान्त सदा अलग होने के लिए सिर उठाते रहते थे। "अन्ततः अपनी मृत्यु के बाद तुम्हें उतनी ही धरती की आवश्यकता होगी जितनी की तुम्हारे शरीर की लम्बाई है," उसने कहा। अपनी इच्छा के विपरीत यह सिकन्दर के साथ फारस गया जहां उसने आग में प्रवेश कर समाधि ली। दन्दामिस को अपनी मातृभूमि छोड़ने के लिए सहमत नहीं किया जा सका।"

—सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org